बच्चों की क्षमता में शिक्षक का विश्वास महत्त्वपूर्ण है

विमला रामचन्द्रन

"अगर मैं इन कक्षाओं में देखी गई मूल मान्यताओं और शिक्षण अभ्यासों को संक्षेप में बताना चाहूँ, तो यही कहूँगा कि सबसे महत्त्वपूर्ण बात शिक्षकों का यह विश्वास होती है कि 'हर बच्चा सीख सकता है; यह ज़िम्मेदारी हमारी है।' यह शिक्षक हर बच्चे के सीखने के अनुभव को दिलचस्प बनाने की कोशिश करते हैं और बच्चों के उस मौजूदा ज्ञान का सम्मान करते हैं जिसे वह अपने साथ कक्षा में लाते हैं। इस ज्ञान का उपयोग करते हुए वह नए ज्ञान का निर्माण करते हैं... साथ ही यह शिक्षक अवधारणाओं को अपने आस-पास की दुनिया के साथ जोड़ने में भी बच्चों की मदद करते हैं " (एस. गिरिधर, 2019, पृष्ठ 122)।

एस. गिरिधर की हालिया पुस्तक ऑर्डिनेरी पीपल, एक्स्ट्राऑर्डिनेरी टीचर्स (एस. गिरिधर, 2019) को पढ़ते हुए इन असाधारण शिक्षकों की जो एक ख़ासियत मुझे समझ आई वह थी उनका यह विश्वास कि प्रत्येक बच्चे में सीखने की सहज क्षमता होती है। इस विश्वास के कारण उनके काम करने के तरीक़े, उनके द्वारा उपयोग किए जाने वाले शिक्षणशास्त्र और सबसे महत्त्वपूर्ण बात बच्चों के साथ उनके सम्बन्धों पर बहुत फ़र्क़ पड़ा है।

पिछले तीस वर्षों के मेरे शोध ने मुझे यक़ीन दिलाया है कि शिक्षक का विश्वास इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह बच्चों के प्रति उनके रवैये, उनके द्वारा कक्षा में उपयोग किए जाने वाले शिक्षणशास्त्र और सबसे महत्त्वपूर्ण बात, उनके समय प्रबन्धन को प्रभावित करता है। इससे वे यह सुनिश्चित कर पाते हैं कि वे हरेक बच्चे तक पहुँच सकें। इसी प्रकार से शिक्षक के पूर्वाग्रह, तरफ़दारी करना और दृष्टिकोण सीखने के लिए एक महत्त्वपूर्ण बाधा भी हो सकते हैं। यदि शिक्षक यह मानते हों कि कुछ जाति/वर्ग के बच्चों में सीखने की जन्मजात क्षमता नहीं होती तो इस बात की काफ़ी सम्भावना है कि वे उन बच्चों की उपेक्षा करें और केवल उन बच्चों पर ध्यान केन्द्रित करें जिनके बारे में उनकी यह मान्यता है कि वे सीख सकते हैं। यदि किसी शिक्षक का यह मानना हो कि लड़कियाँ गणित नहीं सीख सकती हैं तो वह उसी भावना को ज़ाहिर करेगा और तब शायद लड़कियों को सवाल पूछने या अपनी शंकाओं को दूर करने में डर लग सकता है।

सबसे पहले तो शिक्षक के विश्वास और उनके ज्ञान के बीच में अन्तर करना ज़रूरी है। ज्ञान दो प्रकार के होते हैं— 'समुदाय द्वारा स्वीकृत वस्तुनिष्ठ ज्ञान (जैसे, आधिकारिक विषयवस्तु का ज्ञान) और व्यक्तिपरक ज्ञान। विश्वास व्यक्तियों के व्यक्तिपरक ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है और वस्तुनिष्ठ ज्ञान से अलग है...' (टर्नर, क्रिस्टेंसन और मेयर, 2014, पृष्ठ 361)। 2011-12 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के लिए समावेशन और बहिष्करण पर मैंने एक अध्ययन का नेतृत्व किया था। उसमें हमने देखा कि शिक्षक और स्कूल के प्रमुख यह मानते थे कि बहुत ग़रीब परिवारों के बच्चों— विशेषकर आदिवासी और दलित बच्चों —में भाषा, गणित और विज्ञान सीखने की जन्मजात क्षमता नहीं होती। परिणामस्वरूप, उन्होंने उन बच्चों तक पहुँचने का कोई प्रयास ही नहीं किया जिनके बारे में उन्हें विश्वास था कि वे नहीं सीख सकते (रामचन्द्रन और नोरेम, 2012)। उसी अध्ययन में हम ऐसे शिक्षकों के सम्पर्क में भी आए जो सच्चे दिल से यह मानते थे कि सभी बच्चे सीख सकते हैं और यह ज़रूरी नहीं कि घर का माहौल अधिगम के लिए हमेशा अवरोधक हो। जब हमने इस बारे में और खोज की तो पाया कि यह शिक्षक अत्यन्त ग़रीब और हाशिए पर रहने वाले बच्चों के साथ प्रभावी ढंग से काम करते थे और इस प्रयास में लगे रहते थे कि उन्हें बुनियादी अवधारणाएँ समझने में सक्षम बनाया जाए। ऐसे शिक्षकों का व्यक्तिपरक ज्ञान उनके इन्हीं अनुभवों पर आधारित था। समान रूप से महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि कक्षा में यह बच्चे अपने साथ जो ज्ञान लाए हैं, उसी के आधार पर इन शिक्षकों ने नए ज्ञान का निर्माण करने की कोशिश की।

उदाहरण के लिए, एक शिक्षिका ने ब्लैकबोर्ड पर अलग-अलग कॉलम बनाए और एक ही शब्द को अलग-अलग भाषाओं में लिखा— जैसे उस क्षेत्र की मुख्य भाषा में, उस क्षेत्र की प्रमुख आदिवासी भाषा में, कक्षा में मौजूद अल्पसंख्यक आदिवासी समूह की भाषा में और अँग्रेज़ी में भी। इस तरह शिक्षिका ने अपनी कक्षा का प्रतिनिधित्व करती विभिन्न भाषाओं में किसी एक ही वस्तु को कैसे बताया जा सकता है— इस बात को

स्वीकार करके और इसपर चर्चा करके प्रत्येक बच्चे को सीखने की प्रक्रिया में तुरन्त शामिल कर लिया। एक अन्य स्कूल में मैंने देखा कि एक शिक्षक स्थानीय मान सिखाने के लिए पत्तियों और लकड़ियों के गट्ठे या बण्डल का उपयोग कर रहे थे। उस गाँव के सबसे ग़रीब समुदाय के बच्चे अपने माता-पिता को पत्तों के गट्ठे बनाते और उन्हें गिनते देखने के आदी थे। बच्चे अकसर पचास पत्तियों या सौ पत्तियों के गट्ठे बनाने में अपने माता-पिता की सहायता करते थे। गणितीय अवधारणाओं को वास्तविक जीवन की गतिविधियों से जोड़ने का जादुई प्रभाव हुआ— बच्चों को सीखना मज़ेदार लगा और वे उस गतिविधि के साथ ख़ुद को आसानी से जोड़ सके।

हमारे सामने कुछ बहुत ही रोचक विरोधाभास भी आए। नमूने के तौर पर लिए गए छह राज्यों के शिक्षकों के साथ हुई चर्चा ने एक आम धारणा को भी उजागर किया कि : अत्यधिक वंचित सामाजिक समूहों के बच्चे स्कूल में अच्छा प्रदर्शन नहीं करते हैं। दिलचस्प बात यह है कि उन्हीं स्कूलों से मिली जानकारी से यह भी पता चला कि यह एक ग़लत धारणा है और वंचित सामाजिक समूहों के कई बच्चे अकादमिक रूप से वास्तव में अच्छा प्रदर्शन कर रहे थे। शिक्षक की धारणाओं और वास्तविकता के बीच एक असम्बद्धता है और यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ एक ओर शिक्षकों ने स्वयं उन बच्चों की ओर ध्यान दिलाया जो 'होशियार' और पढ़ने के लिए उत्सुक थे (उनमें से कई दलित/आदिवासी समूह के थे), वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने पूर्वाग्रहों और रूढ़ियों को भी पकड़े रखा…" (रामचन्द्रन और नोरेम, 2015, पृष्ठ 25-26)। जब हमने शिक्षकों से इस बारे में चर्चा की तो उन्होंने अपवादों की बात कही, और इस 'सफलता' का श्रेय व्यक्तिगत बच्चे की असाधारण क्षमताओं को दिया, भले ही वह एक ऐसे सामाजिक समूह या परिवार से आया हो जिसे वे सीखने में अक्षम समझ रहे थे।

वैश्विक प्रमाणों से पता चलता है कि सीखने और सिखाने के बारे में कुछ मज़बूत मान्यताओं के कारण शिक्षकगण रचनात्मक या अधिगम केन्द्रित शिक्षणशास्त्र को नहीं अपनाते हैं। सबसे पहली बात तो यह कि बहुत-से शिक्षक शिक्षार्थी और विषयवस्तु दोनों को अन्त:क्रियात्मक और परिवर्तनशील मानने की बजाय नियत या स्थिर मानते हैं। इन शिक्षकों का मानना है कि बच्चों के विकास का स्तर और व्यक्तिगत अन्तर, जैसे कि बुद्धि, दोनों ही पाठ्यचर्या को पढ़ा पाने की उनकी क्षमता को प्रभावित करते हैं, इसलिए उन्हें अपनी पढ़ाने की शैली या गति को इस तरह बदलना होगा कि वह सभी विद्यार्थियों के 'माक़ूल' हो। ऐसा ही एक विश्वास यह है कि शिक्षक यह मान सकते हैं कि अगर कुछ सिखाया जाता है (यानी समझाया या दर्शाया जाता है), तो उसे सीखा भी जाना चाहिए (नटल, 2004)। यदि विद्यार्थी नहीं सीखते हैं, तो इस समस्या के लिए विद्यार्थियों की (स्थिर) प्रेरणा, क्षमता या दृढ़ता की अपर्याप्तता को ज़िम्मेदार ठहराया जाता है, शिक्षण को नहीं (फ्लोडेन, 1996)। 'इस तरह की मान्यताएँ उन मान्यताओं के एकदम विपरीत हैं जो एक अन्तःक्रियात्मक दृष्टिकोण का मार्गदर्शन करती हैं...' (टर्नर, क्रिस्टेंसन और मेयर, 2014, पृष्ठ 362; नटल 2004 और फ्लोडेन 1996 में क्रिस्टेंसन और मेयर द्वारा उद्धृत)।

इस समस्या का कारण शिक्षक का यह विश्वास है कि शिक्षकों को कक्षा के प्रबन्धन पर अधिक ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, बजाय यह सुनिश्चित करने के कि हर बच्चा सीखे। यह विश्वास तब प्रबल होता है जब सरकार शिक्षकों को पाठ्यक्रम पूरा करने के निर्देश देती है— शिक्षकों से अपेक्षा करती है कि वे सम्बन्धित राज्य सरकारों/शिक्षा बोर्डों द्वारा निर्धारित कार्यक्रम का पालन करें। शिक्षकों के साथ की गई चर्चा से पता चलता है कि उन्हें विवश होकर हर महीने पाठ्यक्रम के विशिष्ट खण्डों को पूरा करने के लिए समय सारणी का पालन करना पड़ता है। यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब विद्यार्थियों से पूछा जाता है कि वे ट्यूशन क्यों लेते हैं। विद्यार्थियों का कहना है कि ट्यूटर्स इस बात को सुनिश्चित करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं कि प्रत्येक पाठ को सीखा या याद कर लिया जाए। पाठ और उससे जुड़े हुए प्रश्न-उत्तर व्यवस्थित रूप से याद किए जाते हैं ताकि विद्यार्थी परीक्षा दे सकें। ट्यूटरों द्वारा निष्क्रिय अवलोकन या भागीदारी को प्रोत्साहित नहीं किया जाता है, जबकि कक्षा में, शिक्षक उन बच्चों की उपेक्षा करते हैं, जिन्हें 'कसौटी पर खरा उतरा हुआ' नहीं माना जाता। इससे निष्क्रिय अवलोकन या पीछे की बैंच में बैठने को बढ़ावा मिलता है और कक्षा में क्या हो रहा है, इसे अनदेखा किया जा सकता है।

यद्यपि रटकर सीखने की प्रक्रिया कक्षाओं और ट्यूशन केन्द्रों दोनों में एक आदर्श बन गई है, लेकिन बच्चों की क्षमता पर शिक्षक का विश्वास ही वह कुंजी है जिससे स्कूलों और ट्यूशन केन्द्रों में सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है। जैसा कि लेखिका द्वारा किए गए 2015 के

अध्ययन (रामचन्द्रन और नोरेम 2015) में पाया गया था, कुछ विद्यार्थियों या जाति/लिंग या सामाजिक वर्ग की रूढ़ियों को लेकर शिक्षकों की जो अपेक्षाएँ होती हैं और जिसके साथ वे कक्षा में आते हैं, उससे बहुत फ़र्क़ पड़ता है। यह रूढ़ियाँ स्वयं पूर्ण होने वाली भविष्यवाणियों की तरह हैं — उन लोगों की उपेक्षा करना जिन्हें सीखने में अक्षम माना जाता है — जो ऐसे विद्यार्थियों को कक्षा के भीतर एक निष्क्रिय और असम्बद्ध स्थान में धकेल देती हैं। जब बच्चों को कक्षा के अन्दर हाशिए पर रखा जाता है, तो वे कक्षा की गतिविधियों की ओर से उदासीन हो जाते हैं। जैसे ही बच्चे एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाते हैं, 'नो-डिटेंशन' का प्रचलित नियम (जिसे शिक्षक 'कोई आकलन नहीं' कहते हैं) न सीखने के बढ़ते हुए बोझ को और बढ़ाता है। नौवीं कक्षा में दाख़िला लेने के बाद स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों के साथ फोकस-समूह चर्चा से पता चला कि वे अकादमिक अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पा रहे थे और इसलिए उनके पास स्कूल छोड़ने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था।

पढ़ाई में असफलता और उसे पूरा करने में असमर्थता बच्चों के ड्रॉपआउट का एक महत्त्वपूर्ण कारण बनकर सामने आई— स्कूल छोड़कर जाने वाले बच्चों के माता-पिता ने कहा, "शिक्षकों की कमी थी, स्कूल में पढ़ाई नहीं हो रही थी, इसलिए बच्चों की पढ़ाई छूट गई।"

एक अन्य समूह में माता-पिता ने कहा, "हम चाहते थे कि हमारे बच्चे आठवीं कक्षा के बाद भी पढ़ाई जारी रखें, लेकिन उन्होंने स्कूल छोड़ने का फ़ैसला किया क्योंकि 'वे कक्षा आठ तक कुछ ख़ास नहीं सीख पाए थे और इसलिए वे आगे पढ़ाई नहीं करना चाहते थे' — उन्हें पढ़ाई मुश्किल लगी।" दिलचस्प बात यह है कि पढ़ाई में दिलचस्पी न होना शोध टीम को यह सूचित करने का एक तरीक़ा बन गई कि बच्चे सीख नहीं रहे (रामचन्द्रन और नागपाल 2019)।

उपर्युक्त अन्तर्दृष्टि और जानकारी में कुछ भी नया नहीं है— शिक्षा समुदाय सदा से इस बात को जानता है कि शिक्षक के विश्वास को सम्बोधित करना शायद सबसे कठिन मुद्दा है। व्यवस्थापक, शिक्षक-प्रशिक्षक और शैक्षिक शोधकर्ताओं को पता नहीं है कि इस मुद्दे से कैसे निपटा जाए। इस समझ के बावजूद, सेवाकालीन शिक्षक-प्रशिक्षण मुख्य रूप से विशिष्ट विषय ज्ञान या अवधारणात्मक समझ पर केन्द्रित है —जिन्हें हार्ड स्पॉट्स कहा जाता है। मौजूदा मान्यताओं और पूर्वाग्रहों को दूर करने का कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किया जाता है। यह एक उपेक्षित क्षेत्र रहा है— हालाँकि असाधारण स्कूलों या शिक्षकों की केस स्टडीज़ से बार-बार संकेत मिलता है कि प्रेरित और अपने कार्य के साथ प्रामाणिक रूप से जुड़े शिक्षक बच्चों की शिक्षा को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं। यदि उनका विषय ज्ञान पर्याप्त नहीं भी होता है तो वे अन्य शिक्षकों या अन्य सहायता प्रणालियों (जैसे शिक्षक मंचों या विषय मंचों) से मदद लेने में हिचकते नहीं।

आवधिक आकलनों — चाहे वह सरकारी (एनसीईआरटी) या निजी/ग़ैर-सरकारी एजेंसियों एएसईआर, ईआई) द्वारा किया गया हो — ने हमें बताया है कि वास्तव में देश भर में सरकारी और निजी स्कूलों में भी अधिगम को लेकर बहुत बड़ा संकट है। फिर भी, ज़ोर अधिक आकलन करने और (हाल ही में) यादृच्छिक नियन्त्रण परीक्षण (रैंडम्ज़ाइड कंट्रोल ट्रायल – आरसीटी) अध्ययन करने पर है। भारत को पोलिश या फ़िनिश के उदाहरण से सबक़ लेना चाहिए और शिक्षक के 'विश्वास', शिक्षक के 'आत्मविश्वास', शिक्षक की 'स्वायत्तता' और शिक्षकों के ज्ञान और कौशल पर ध्यान देना चाहिए। हालाँकि एनईपी 2019 का मसौदा अधिगम सम्बन्धी संकट को स्वीकार करता है, लेकिन इसे सम्बोधित कैसे किया जाए, इस बारे में ज़्यादा विचार नहीं किया गया है।

अधिगम और शिक्षा की गुणवत्ता के मुद्दे को सामाजिक और आर्थिक असमानता के साथ बारीकी से जोड़ा गया है। अब यह सार्वभौमिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि बच्चे स्कूल में जो 'सामाजिक पूँजी' लाते हैं, वह सफलता का एक महत्त्वपूर्ण भविष्यवक्ता है। इसका अर्थ यह है कि जिन बच्चों के माता-पिता शिक्षित हैं, जिनको किताबें और अन्य पठन सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, जिनको रचनात्मक कला व मीडिया अधिक सुलभ हैं और जो संसाधन समृद्ध वातावरण में रहते हैं — वे शैक्षिक प्रक्रिया से उन बच्चों की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त करते हैं जो संसाधनहीन वातावरण से आते हैं। इसके विपरीत, सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित समुदायों के बच्चे, जो अपने शिक्षकों और साथी विद्यार्थियों से स्कूल में विभिन्न तरह के भेदभावों का सामना करते हैं, अल्प आत्मसम्मान व आत्मविश्वास और बहुत ही कम 'अधिगम' के साथ स्कूल छोड़ देते हैं।

जैसे-जैसे लड़कियाँ शैक्षिक सोपान पर ऊपर चढ़ती हैं, उन्हें एक और प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करना पड़ता है— उन्हें अपनी पसन्द का विषय नहीं मिलता है। कई राज्यों में तो (विशेष रूप से कुछ उत्तर और पश्चिमी राज्यों में) लड़कियों के माध्यमिक विद्यालय विज्ञान, गणित या वाणिज्य जैसे विषयों का विकल्प पेश ही नहीं करते। इसी तरह आदिवासी क्षेत्रों में

और सर्वाधिक वंचित आदिवासी समुदायों के बच्चे न केवल भेदभाव का अनुभव करते हैं, बल्कि प्राथमिक स्तर से परे स्कूलों तक उनकी पहुँच भी बहुत कम है।

शिक्षक के विश्वास को केन्द्र में लाने से हमें इस विषय पर बातचीत करने में मदद मिल सकती है कि प्रत्येक शिक्षक के लिए यह मानना क्यों ज़रूरी है कि हर बच्चे में सीखने की क्षमता है। शायद यह माँग इस समय में अतिशयपूर्ण लगे जब सामाजिक ध्रुवीकरण बढ़ रहा है और हमारे राजनीतिक और सामाजिक नेता अधिक पूर्वाग्रहों को बढ़ावा देने में व्यस्त हैं; यह समझाने की बजाय कि यदि शिक्षा समान रूप से और इस तरीक़े से दी जाए कि सभी बच्चों को सीखने का मौक़ा मिले तो अपने देश को आगे बढ़ाने का यही एकमात्र तरीक़ा हो सकता है। शायद यह शिक्षकों, उनके दृष्टिकोण, विश्वास और उनके ज्ञान के साथ शुरुआत करने का एक अच्छा समय है।

References

Giridhar, S. 2019. Ordinary People, Extraordinary Teachers: The Heroes of Real India. Westland Publications. Chennai.

Ramachandran, Vimala and Nagendra Nagpal. 2019. Status of Secondary Education in Rajasthan – insights from a qualitative study in Chittorgarh District, Draft Report, ERU Consultants Private Ltd. New Delhi.

Ramachandran, Vimala and Taramani Naorem. 2012. Inclusion and exclusion of students in the school and in classrooms in primary and upper primary schools: A qualitative study commissioned by SSA, MHRD, GOI. Technical Support Group, EdCIL, New Delhi.

Turner, Julianne C, Andrea Christensen and Debra K Meyer. 2014. Teacher's Beliefs about Student Learning and Motivation, in L J Saha and A G Dworkin (eds.), International Handbook on Research on Teachers and Teaching (pp361-371). Springer. UK.

विमला रामचन्द्रन प्राथमिक शिक्षा, लड़कियों की शिक्षा, महिला सशक्तीकरण और बच्चों के स्वास्थ्य, पोषण व शिक्षा तथा बच्चों की देखभाल के तौर-तरीक़ों से सम्बन्धित बिन्दुओं पर काम कर रही हैं। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे शोधकर्ताओं और अभ्यासकर्ताओं का नेटवर्क बनाने के लिए 1998 में एजुकेशनल रिसोर्स यूनिट की स्थापना की (जिसे अब ईआरयू कंसल्टेंट्स प्राइवेट लिमिटेड के रूप में जाना जाता है)। 2011 से 2015 के मध्य तक वे नेशनल फैलो और नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन (NUEPA) में प्रोफ़ेसर ऑफ़ टीचर मैनेजमेंट एंड डेवलपमेंट थीं। वर्तमान में वे ईआरयू कंसल्टेंट्स प्राइवेट लिमिटेड (www.eruindia.org) की निदेशक हैं। उनसे vimalar.ramachandran@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

अनुवाद : नलिनी रावल